उदय प्रकाश की कविताएँ और नव-उपनिवेशवाद

- प्रो. गणेश बी. पवार

दूसरे महायुद्ध के बाद कई देशों को उपनिवेशवादी सत्ताओं से आज़ादी मिलने लगी थी। पश्चिमी देशों ने अपनी दूसरों देशों पर सत्ता और उसके द्वारा किए गए अनगिनत शोषण से पश्चिम के देशों ने न सिर्फ़ अपने यहाँ औद्योगीकरण किया, बल्कि उन्हें अपने बाज़ार व लूट का कायम स्थान बना दिया था। अब इन देशों के प्रशासन को छोड़ने पर उन्हें विवश होना पड़ा, लेकिन वहाँ के व्यापारियों, पूँजीपतियों और उद्योगपतियों को इतने बड़े-बड़े बाज़ार गँवाना गवारा न था। उन्होंने अपने इन बाज़ारों को कायम रखने के लिए नए उपाय खोजने शुरु किए, ताकि उनका बाज़ार और बाज़ार पर सत्ता अबाध रूप में कायम रहे। उन्होंने बाज़ार पर सत्ता को कायम रखने इस बार राजनीतिक सत्ता की जगह बौद्धिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रास्ता चुना, जिसके झीने परदे के नीचे तीसरी दुनिया के देशों की राजनीति को भी कठपुतली बनाना था। इसे ग्लोबल विलेज, उत्तर-उपनिवेशवाद, उत्तर-आधुनिकता आदि का सैद्धांतिक रूप दिया गया, जो असल में था तो नव-साम्राज्यवाद का उत्पाद नव-उपनिवेशवाद। इसके चारों ओर चमकीले नारों और सिद्धांतों का जाल बुना गया और इसकी ओट में बाज़ार और बाज़ार पर नियंत्रण को कायम रखने की कवायदतें की गईं। इसके तहत पश्चिमी कथित लोकतांत्रिक देशों ने अपने पूर्व-उपनिवेशित देशों ने अपना वर्चस्व हर तरह से बनाए रखने की कोशिश की है। इसके तहत बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्पादों के ज़रिए साम्राज्यवादी मानसिकता को कायम रखने, आज़ाद हुए देशों की राजनीति का इस्तेमाल करने, कंपनी शासन कायम कर हर एक देश में निजीकरण के ज़रिए अर्थव्यवस्था एवं मानसिक गुलाम बनाने जैसे साम्राज्यवादी काम किए गए। इस प्रवृत्ति ने एक ओर स्थानीय स्तर पर भ्रष्टाचार, लोकतांत्रिक मूल्यों के ह्रास, मानवीयता के पतन एवं अति-भौतिकवाद, संस्कृति व्यापार, बौद्धिकता का ह्रास जैसी प्रवृत्तियाँ इन देशों में पनपी, वहीं अप्रत्यक्ष औपनिवेशिक प्रभुत्व के ज़रिए धीरे-धीरे देशी सांस्कृतिक मूल्यों का पतन होता गया। इन परिस्थितियों में कवि-कलाकारों ने समाज की दिशाहीनता को अपने कला-माध्यमों में अभिव्यक्त न किया तो यह कला-धर्म के प्रति बेईमानी होगी। उदय प्रकार अपनी कविताओं में इस बेईमानी से बचते हुए देखे जा सकते हैं। यह उदाहरण देखें:

जो सरकार हो तो

रियाया का दुख समझो
बारिश करो
खेत में फसल पैदा करो
ये तुम कौन से सरकार हो जी
राच्छस की तरह आते हो
तबाही मचाते हो
सन समट-बटोरकर ले जाते हो।[1]

यह सीधी और अभिधात्मक अभिव्यक्ति इसलिए ज़रूरी है कि अति-शोषण समाज के सौंदर्यबोध को भी कुंद कर देता है। भुखमरी, बेरोज़गारी की अति से सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों का ह्रास निश्चित होता है। एक बेरोज़गार अपने बच्चे को न तो भरपेट योग्य अनाज ही मुहैया करा सकता और न शिक्षा, ऐसे में स्वस्थ देश की कल्पना भी बेईमानी होगी। जब बैंक की लाइनों से लेकर राशन की दुकान तर भीड़ लगी हो, राशनकार्ड बनाने के लिए तक रिश्वत देनी पड़ती हो, हक़ मांगने पर लाठियाँ मिलती हो, तो अन्नदाता किसान क्या करें, घर बनाने वाले बेघर कर दिए जाते हों, तो मेहनतकश तबक़ा क्या करें? इसके ऊपर अगर दुख सुनाने वाले ढेर हैं, सुनने या उस पर मदद का हाथ बढ़ाने वाला कोई न हो, तो अपने हुनर को औने-पौने दामों पर बेचने के अलावा रास्ता ही क्या रह जाता है? ज़मीन से बेदखली, प्रदूषित प्रकृति, बंजर होते खेत, किसान ऐसे में क्या उपाय करें? ऐसे में जीवन बस ओढ़ने-बिछौने को जमा करते-करते ही बीत जाता है। उदय प्रकाश की 'दक्खन' इसी तरह के आँखों देखे हाल को सीधे-सरल ढंग से पेश करती है:

दुक्खन तुम्हारे हर से
चार महीना जंगल में लुका रहा
फिर जाने कौन-सा
सरकारी बाघ उसे खा गया।[2]

हमारे यहाँ, शायद किसान ही ऐसा वर्ग है, जिसकी कोई जाति नहीं, धर्म नहीं, जो सिर्फ़ किसान है और उसकी हालात देश के किसी भी भाग में लगभग एक जैसी ही है। इसलिए किसान, सिर्फ़

[1].अबूतर-कबूतर, पृ.55
[2].रात में हारमोनियम, पृ.47

किसान है, न वह ज़मींदार है और न हक़दार, बस किसान है। इस बात को किसी समय राम विलास शर्मा ने भी भाँप लिया था, "यद्यपि विभिन्न पेशा के आधार पर जाति के गठन की सामाजिक जाति-व्यवस्था रही है, लेकिन किसान जैसे महत्त्वपूर्ण काम को किसी एक जाति से नहीं जोड़ा गया।" यहाँ शर्मा जी यदि 'धर्म' भी लिख देते तो यह वाक्य भारत में किसान किस तरह हाशियों के भी हाशिये पर है, यह समझ में आ जाता। एक ओर हम हरित क्रांति और मशीनरी क्रांतियों की भ्रातियाँ फैला रहे हैं, दूसरी ओर खेती करना क्या मुश्किल होता जा रहा है। उदय प्रकाश की सरकार कविता इसी संकट को खुलकर अभिव्यक्त करती है,

दुखकन बहू ने कहा...
सरकार लगान के बावन
फरियाद है
कि बारिश नहीं हुई
धरती झुरा गयी
खेत फर गए
गाँछ के पात
खड़-खड़ बजने लगे
कुठिला में दाना भी नहीं
जो या सो हमने खा लिया
जन खा ही लिया
तो खेल में छींटते क्या
सो लगान के बावत फरियाद है।[3]

यह कविता अपने-आप में भारत ही नहीं, तीसरी दुनिया के हर एक किसान के हालात को बयाँ करती हैं। किसानों की दुर्दशा औपनिवेशिक सरकार ने जो की सो की, लेकिन कथित आज़ाद भारत की सरकार ने भी यदि भूमि-बंदोबस्त, ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमि-सुधार जैसे कार्यक्रमों को निष्पक्षता से लागू न कर भी औपनिवेशिक शासन की प्रवृत्तियों को जीवित रखने में मदद की। देश के हर एक हिस्से में किसान आज भी अपने पट्टे के लिए तरस रहे हैं, पीढ़ियों से किसानी

[3].वैरागा आया है गाँव, पृ.46

और जोतने के बावजूद उन्हें न तो ज़मीन का मालिकाना हक मिला है और न मालिकाना हक होने के कारण मिलने वाली सरकारी योजनाओं का लाभ। उदय प्रकाश की कविता 'मालिक आप नाहक नाराज़ हैं' में हमें इन्हीं भूमण्डलीय सामंती जंज़ीरों को तोड़ने की छटपटाहट देखी जा सकती है:

आप तो फिर क्या हैं मालिक
फूस की तरह उड़ेंगे अन्धड़ में
पटकानी खाएँगे खपरैलों में
बेपर्द अलग हो जाएँगे।
और नीचे धरती पर
इत्ते-सारे-पत्ते सारे रंग
सन के सन
आपका मज़ाक बनाएँ।[4]

किसान के हालात हमारे सामने ज़ाहिर हैं, लेकिन देशी कलाकारों और कारीगरों के हालात आज की पीढ़ी ने देखे नहीं। कारीगरों का बहुत बड़ा तबक़ा देशी कारीगरी की कलाओं का निगेहबान था। उसे सबसे पहले तो अंग्रेज़ राज ने नीति के तहत ख़त्म किया, लेकिन आज़ादी के बाद उसे अनदेखी के तहत अपने कारोबार और पीढ़ीगत कामों को छोड़ना पड़ा। पचास रुपये के प्लास्टिक के घड़े के आगे 100 रुपयों का मिट्टी का मटका कौन ख़रीदें! - यह मानसिकता हमारे भीतर कहाँ से आई? और अब, मिट्टी का घड़ा खरीदना चाहिए, इससे प्रकृति और सेहत का नुकसान नहीं होता - यह प्रचार कौन कर रहा है? पहले तो कहा गया -

बाज़ार के मुताबिक
तैयार करो सुराही
नहीं तो वह गेंडा-सा तुन्दियल
टेढ़ा-मेढ़ा हाथी का बच्चा ठेकेदार क्या कहेगा।[5]

[4].सुनो कारीगर, पृ.22
[5].सुराही, सुनो कारीगर, पृ.44

फिर क्या हुआ? इसके बाद कई देशी कारीगरों को व्यवस्थित रूप से अपने पीढ़ी-गत व्यवसाय छोड़ने पर मजबूर किया गया। एक ख़ास तरह की मानसिकता ग्राहकों में भरी गई, और उसका मार्केट गिरा दिया गया। इसमें बाज़ार पर नियंत्रण पाते ही, मेडिकल के बाज़ार को सक्रिय किया गया है और प्लास्टिक आदि के प्रति चेतना को उजागर करने की कोशिश की गई। ऐसी ही मानसिकता हमारे खाने या खाद्यान्न के प्रति जगाई जा रही है। पहले तो हरित क्रांति के नारों के बीच किसान को बाज़ार के लिए अधिक-से-अधिक उपजाने के लिए कीटनाशकों का बाज़ार गर्माया गया, उन्हें तरह-तरह के रसायन इस्तेमाल करने के लिए प्रेरित किया गया और जब सारी धरती बंजर हो गई और किसान के उत्पाद का उचित मूल्य नहीं मिल पा रहा, तब उन्हें सेहत का हवाला देकर ऑर्गेनिक खेती करने के लिए प्रेरित किया जा रहा है। यह सब बाज़ार की माया है। उसने कैंसर जैसी बीमारियों को को कीटनाशकों के ज़रिए फैलाकर मेडिकल इंडस्ट्री खड़ी कर ली और अब ऑर्गेनिक इंडस्ट्री खड़ी कर रहा है। दोनों हाथों में लड्डू सिर्फ़ बाज़ार और उसके मालिकों को ही हो सकते हैं और भारत जैसे देशों के किसान और प्रकृति:

कितनी नदियाँ अब
पंजाब में
कितने और कितने गुरुद्वारे हैं
पंजाब में
बताओ प्रार्थना करते लोगों के फेफड़े में
कितना मिथाइल आइसो सायनेट हैं
बताओ
पचान में
कितने भोपाल हैं
ये सारे प्रश्न
अब अनिवार्य हैं।[6]

हमारे समय का सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द है - 'बाज़ार'। बाज़ार का कोई ईमान नहीं होता, कोई मूल्य नहीं होता न कोई मालिक होता है, न कोई देश होता है। बाज़ार पर नियम नहीं लागू होते हैं।

[6].रात में हार्मोनियम, पृ.71

बाज़ार को चाहिए सस्ता श्रम और ख़रीददार। आज का बाज़ार किसी होरी को नहीं चाहता, उसे तो गोबर चाहिए। वह किसी की जान नहीं लेता, उसे ख़रीददार बनाए रखता है। ताकि वह खटता रहे जीवन के लिए और ख़रीदता रहे जीवन-पर्यंत। उदय प्रकाश की इस कविता को पढ़ें और अपने बचपन का 'पीगी-बैंक' यानी गुल्लक याद करें;

किसी भी सुअर के बच्चे
शुरु में
सूअर नहीं होते
वे ख़रगोश और मेमने से भी ज़्यादा
मुलायम, नर्म और
गये-गुज़रे होते हैं
वो तो हम हैं
जो उन्हें पढ़ाते-सिखाते हैं
नसीहतें देते हैं
वैसा माहौल बनाते हैं।[7]

अगर आपको आपकी गुल्लक याद आई होगी, तो उससे जुड़ी भावनाएँ, लालसाएँ और उसको खुलने पर की गई कल्पनाएँ भी याद आए होंगे। क्या आज के बच्चों को भी उसी तरह से गुल्लक रखने का शौक है? क्या उनकी भी भावनाएँ और विचार आप जैसे हैं? क्या कोई बच्चा गुल्लक रखता है? क्या कोई भविष्य का विचार करता है कि मैं इस गुल्लक के खुलने पर अपने बचपन का सबसे बड़ा सपना पूरा करुंगा या करुंगी? यह होता है सांस्कृतिक बदलाव। मॉल संस्कृति और महानगरों में खेतीहार मज़दूरों का विस्थापन-पलायन, गरीबों को न सिर्फ़ संस्कृति से, बल्कि सपनों से भी उज्जड़ बना रहा है:

बहुत खदेड़ा जाता है उन्हें दिल्ली से बाहर
लेकिन वे कीड़ों और मक्खियों की तरह हर जगह आ जाते थे
उनके टपरे सुबह-सुबह उग जाते थे वहाँ-जहाँ
कल तक नहीं था उनका निशान

[7].वही, पृ.15

पुलिस आती थी बुलडोज़रों और बन्दूकों के साथ
और उजाड़ती रहती थी उनका संसार
एक पिचके पतीले में कोई आत-सा दाना
उबालती हुई।[8]

कोई यह आसानी से कह सकता है कि यह सरकारों की विफलता है, लेकिन हमारा मानना है कि सरकारें भी बाज़ार के दबाव में काम करती हैं और यह नव-उपनिवेशवादी मानसिकता से नीतिगत रूप से की गई व्यवस्था है। विस्थापन केवल रोज़गार की तलाश में ही नहीं होता, बल्कि स्थानीय स्तर ऐसी स्थितियाँ निर्मित की जाती हैं कि लोग शहरों की तरफ आने पर विवश हो जाए। शहरों में आकर ऐसे लोग सस्ता श्रम का ज़रिया बनते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ इसी तरह मुनाफ़े की दर को बढ़ाती जाती हैं और सरकारें इसी विस्थापित मज़दूरों की चवन्नी-अठन्नी पर टैक्स लगाकर रोज़गार निर्मित करने का ढिंढोरा पीटते हुए इन कंपनियों का टैक्स मुआफ करती हैं। इसके तहत पहले प्रतिस्पर्धात्मक मार्केट ख़त्म कर मोनोपोली यानी एकाधिकार स्थापित किया जाता है। इस तरह का एकाधिकार न सिर्फ़ ग्राहकों के लिए होता है, बल्कि आपके काम करने के लिए भी एक-दो कंपनियाँ ही बच जाती हैं, जिसमें आपको उनके नियम व शर्तों के मुताबिक काम करना होता है। इन नियम व शर्तों के तहत इंसानी ज़िंदगी का अस्तित्व छीन लिया जाता है:

मैं कम से कम दस घण्टे सोना
चाहता हूँ एक बार
क्या कहीं से मिल सकते हैं मुझे इतने घोर
बोनस के बतौर
वह कंपनी के सामने गिड़गिड़ाया।[9]

यह गिड़गिड़ाहट, यह विवशता, यह विकल्पहीनता, यह लोकतांत्रिक मूल्यों की ह्रास, यह खाने और दवाइयों के ज़रिए हमारे नसों में भरता हुआ ज़हर, अपनी मैले-कुचैले गमछे में रिश्वत देने के लिए दरवाज़े पर बैठा इंसान, मध्य वर्ग की उदासीनता, शिक्षा का बाज़ार, शासन-प्रशासन का ज़िम्मेदारियों मुक्ति की घोषणा, विकास को नंबरों तक महदूद कर देना, इंसानों को मध्यकालीन मानसिकता से

[8].वही, पृ.वही
[9].अबूतर-कबूतर, पृ.17

सिर्फ़ काम करने के लिए पैदा हुई देह की तरह देखना, संस्कारों के नाम पर अतीत के दिशाहीन मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास, संस्कृति के प्रत्येक कारक को व्यापार बना देना, परिवार को पीढ़ीगत संपत्ति के ट्रांसफर का माध्यम बना देना, विस्थापन की परिस्थितियाँ निर्मित करना, कुल मिलाकर न मरने देना और न जीने देना, आपको क्या लगता है, यह केवल स्थानीय सरकारों की देन है? यह बाज़ार और उसके मालिकों की माया है। उनका मायाकेंद्रित होना है। यह न किसी देश की न किसी व्यक्ति विशेष की कारगुज़ारी है, बल्कि इसका एक पूरा सिद्धांत है और इसका पूरा सिस्टम है। उदय प्रकाश जैसे गिने चुने संस्कृतिकर्मी ही इस तरह के सिस्टम को सामान्य पाठक के सामने पेश करने की कोशिश में लगे हुए हैं।

प्रोफ़ेसर गणेश बी. पवार,
हिंदी विभाग, भाषा एवं मानविकी संकाय,
कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय, कलबुरगी
Email: ganeshpawar@cuk.ac.in